आएँगे अच्छे दिन भी

स्वयं प्रकाश

आएँगे अच्छे दिन भी

स्वयं प्रकाश

स्वयं प्रकाश

20 जनवरी,1947 को इंदौर (मध्यप्रदेश) में जन्म। एम.ए., पी-एच.डी.। मैकेनिकल इंजीनियरिंग में डिप्लोमा।

हिंदी की प्राय: सभी महत्वपूर्ण पत्रिकाओं में कहानियों का प्रकाशन। विभिन्न भाषाओं में कहानियां अनूदित। कुछ नुक्कड़ नाटकों ('विशेषकर 'सबका दुश्मन' और 'नई बिरादरी') के अनेकानेक प्रदर्शन। आठवें दशक में जनवादी पत्रिका 'क्यों' का संपादन। 'सूरज कब निकलेगा' शीर्षक कहानी- संग्रह पर राजस्थान साहित्य अकादमी का अकादमी पुरस्कार।

प्रकाशित पुस्तकें : मात्रा और भार, सूरज कब निकलेगा, आसमाँ कैसे-कैसे, अगली किताब, आएँगे अच्छे दिन भी (कहानी- संग्रह); फिनिक्स (नाटक) तथा दो उपन्यास. एक निबंध- संग्रह गैर बच्चों के लिए दो किताबें।

संपर्क : राजपुरा दरीबा खान, हिंदुस्तान जिंक लिमिटेड, जि. उदयपुर (राज.) 313211

सुपरिचित कथाकार स्वयं प्रकाश का यह पाँचवाँ कहानी-संग्रह है। उनके पास वर्तमान भारतीय समाज- खासकर मध्यवर्ग-को आर-पार देखने वाली दृष्टि तो है ही, अर्थपूर्ण कथा-स्थितियों के चयन और भाषा के सृजनात्मक उपयोग के लिए भी वे अलग से पहचाने जाते हैं। आकस्मिक नहीं कि पाठक स्वयं उनकी कहानी में शामिल हो जाता है अथवा उनके कथा-चरित्र उससे सीधे संवाद करने लगते हैं।

इस संग्रह में लेखक की ग्यारह कहानियाँ संगृहीत हैं! इनमें 'पार्टीशन' और 'आलेख' जैसी मूल्यवान कहानियाँ यदि धर्मांधता और सांप्रदायिक घृणा की पार्श्ववर्ती ताकतों के अमानवीय क्रियाकलाप को उघाड़ती हैं तो बेमकान' शीर्षक कहानी हमारे जीवन-व्यवहार में जड़ीभूत सामंती संस्कारों पर प्रहार करती है। 'अफसर की मौत' अफसरशाही पर चढ़ी चिकनाई और आभिजात्य की धज्जियाँ उड़ाती है तो 'गुमशुदा' भी प्राय: उसी जमीन पर एक गहरी विडंबना को उजागर करती हे। 'संहारकर्ता और 'चोर की माँ' नामक' कहानियाँ पाठक को एक नैतिक

समस्या के रू-ब-रू ला खड़ा करती है। 'नैनसी का धूड़ा' हमारे अपने दैन्य और दुर्भाग्य की अविस्मरणीय दास्तान है और 'अशोक और रेनु की असली कहनी' मेल शेवनिज्म की बारीकियों पर विचार करते हुए एक सजग व्यक्ति के चेतस व्यक्ति में बदलने के आत्मसंघर्ष को रेखांकित करती है। 'झक्की' में वृद्धावस्था की ऊब और एकरसता की दिलचस्प आलोचना है तो 'मरनेवाले की जगह' रोजगार से जुड़ी त्रासद जीवन-स्थितियों पर व्यंग्य करती है।

संक्षेप में कहा जाए तो स्वयं प्रकाश की ये कहानियाँ अपने समय और समाज को जैसी रचनात्मक ईमानदारी लोकोन्मुख दृष्टिमयता और कलात्मक सहजता से प्रस्तुत करती है. समकालीन हिंदी कहानी इससे अनेक स्तरों पर समृद्ध होगी।

क्रम

अशोक और रेनु की असली कहानी	5
मरनेवाले की जगह	13
झक्की	22
पार्टीशन	29
गुमशुदा	37
बेमकान	46
अफसर की मौत	56
चोर की माँ	67
आलेख	84
संहारकर्ता	96
नैनसी का धूड़ा	119

अशोक और रेनु की असली कहानी

उन लोगों की शादी को तीन साल हो चुके थे। पहला साल मित्रों-रिश्तेदारों, रीत-रिवाजों, परिवार की झकों-जिदों-परंपराओं-परेशानियों और एक दूसरे की पसंदों-आदतों और शरीर से परिचित होने में बीत गया।

दूसरा साल सिर्फ उन दोनों का रहा। इसमें वे एक-दूसरे पर पिछले बचपन की कारगुजारियों से कॉलेज की मजेदारियों तक की छोलदारी तानकर उसमें घुसते-निकलते रहे, और घर-गृहस्थी की छोटी-मोटी चीजें जुगाड़कर खुश होते रहे, पड़ोसियों-परिचितों की मजेदार बातों पर हंसते रहे, प्यार के क्षेत्र में अन्वेषक और प्रयोगशील रहे और मित्रों के गुलगुले बच्चों को गोदी में उछालते रहे।

तीसरे साल पति अपने दफ्तर की छोटी- मोटी तीसमारखाँयी पत्नी को बताता रहा और पत्नी उसके स्वेटर, कपड़े, जज्बात और मित्र सम्हालती रही, अपनी भूतपूर्व सहेलियों को याद करती रही, मीठा-मीठा मुस्कुराती रही और पति की परछाईं होती रही।

पति एक कंपनी में इंजीनियर था। ठीक-ठाक-सा खूबसूरत होने, माँ-बाप का इकलौता होने के अलावा उसका इंजीनियर भी होना इस बात के लिए काफी था कि जो लड़की उसे देखे, उस पर मर मिटे। पत्नी ने एम.एस.सी.के बाद बी.एड.की थी। वह काफी चटपटी और चरपरी लड़की रही थी-और बेहद बातूनी, खूब और खूब जोर-जोर से हँसने वाली। उसकी चपर-चपर और छतफाड़ हँसी उसकी माँ को चिंता में डाल देती थी किरी! तेरा क्या बनेगा?

पति का नाम अशोक और पत्नी का रेनु था।

आज कोई देखे तो यकीन न, करे कि ये वही दो चुटिया मटकाती, नाक पर उँगली रखकर हँसती और जमाने-भर की चपर-चपर में पड़ोसन आंटियों के यहाँ दोपहर से शाम करने वाली रेनु है। और यह वही अशोक है, जिसकी साबुत-सलामत पतलूनें भी इसलिए बेकार हो गई हैं कि पीछे से खुलकर भी तंग हो गई हैं और जिसकी तोंद और ठुड्डी जरा-सी हँसी में लहर-लहर हिल उठते हैं। और जिस पर यदि कोई मरती भी रही होगी तो शुकर मना रही होगी कि एकदम से ही नहीं मर गई।

एम.एस.सी. बी.एड. की यही उपयोगिता थी कि रेनु को अशोक मिल जाए। भेज रहे हैं स्नेह निमंत्रण। अशोक के पिता ने मानस के राजहंसों को इसीलिए बुलाया था कि माँ-बाप से सत्रह सौ किलोमीटर दूर अशोक बाबू अपने तीन कमरों के क्वार्टर में रेनुबाई के साथ अकेले रहें, हेरॉल्ड रॉबिंस पढ़ते रहें, बैंगन की सब्जी बनाने की फर्माइश करें और 'ओऽम' की डकार लेकर चुप हो जाएँ, त्रिफला की फंकी लगाकर सो जाएँ या जेलुसिल कुतरते हेरॉल्ड रॉबिंस के हो जाएँ।

अब अक्सर ऐसा ही होता है। बातें... खत्म हो गई हैं। लतीफे सुनाए जा चुके। परचर्चा-सुख एक निश्चित मात्रा में प्रतिदिन छक ही लिया जाता है। आसपास न कोई सिनेमाघर है न बाजार। बस कंपनी कर्मचारियों की कॉलोनी, एक मंदिर, एक सड़क और एकतान एकरस आलाप जैसे रात-दिन। मन करता है कोई तीसरा हो। और हरदम हो। इसलिए जब कोई मेहमान घर आकर जाए या ये किसी के घर होकर आएँ, तो दोनों एक- दूसरे को कुछ अधिक अच्छे लगने लगते हैं।

हल्की सर्दियों के दिन थे। अँधेरा हो चुका था। अशोक और रेनु घूमने जा रहे थे। कॉलोनी के क्वार्टरों के पार तक दोनों चुप-चुप। बच्चे घरों में....क्वार्टरों की खिड़कियाँ बंद। कहीं कोई रेडियो बजता हुआ। सड़क पर सिर्फ जूतों के नीचे चरमराती बजरी की आवाज। दूर तक ठिठुरती-सी खड़ी ट्यूब लाइटें। जैसे वर्षों से दोनों इसी तरह चुपचाप चले जा रहे हों।

"देखो, बिल्ली!" अशोक ने कहा।

सड़क के किनारे दुबकी एक बिल्ली बुरा-सा मानकर एक तरफ चल दी।

“हाँऽS" रेनु ने कहा।

फिर दोनों चुप हो गए।

आगे जाकर एक सुनसान पड़े बगीचे की एक बेंच पर बैठ गए। तीन-चार फर्लांग दूर।

"आज तुम्हारी नीली कमीज की जब से एक रसीद निकली।" रेनु ने कहा।

"नीली कमीज?"

"धो रही थी।"